भगवान महावीर जीवन और दर्शन

—पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री सिद्धान्ताचार्य

भगवान महावीर, जिनके निर्वाण की पच्चीसवीं रजत शती की पूर्ति के अवसर पर सर्वत्र महोत्सव मनाये गये हैं, जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर थे। और प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे। भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती थे। उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया।

जब भगवान ऋषभदेव को पूर्ण-ज्ञान की प्राप्ति हुई और उन्होंने अपने उपदेश में कहा कि मेरे पश्चात् तेईस तीर्थंकर और होंगे तो किसी ने प्रश्न किया—क्या यहाँ उपस्थित जन समुदाय में कोई ऐसा व्यक्ति है जो भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला है? भगवान ने उत्तर दिया—भरत का पुत्र मरीचि अन्तिम तीर्थंकर होगा। यह बात मरीचि ने भी सुनी। और भगवान की वाणी अन्यथा नहीं हो सकती, इस विश्वास के आधार पर अपना तीर्थंकरत्व सुनिश्चित जान वह मदमत्त हो उठा। और उसने अपने कर्मानुसार अनेक गतियों में भ्रमण किया। प्राचीन जैन आगमों में भगवान महावीर के पूर्वजन्मों का इतिवृत्त विस्तार से वर्णित है। एक बार वह सिंह की पर्याय में एक मृग पर झपटते हैं। उधर से जाते हुए मुनिराज की दृष्टि उन पर पड़ती है। अपने ज्ञान से यह जानकर कि यह जीव भविष्य में तीर्थंकर होनेवाला है, वे उसे सम्बोधते हैं और यहीं से उनके जीवन का उत्थान प्रारम्भ होता है, और अन्त में वह वैशाली के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ में अवतरित होकर महावीर के रूप में जन्म लेते हैं। और 28 वर्ष की युवावस्था में प्रव्रजित होकर 12 वर्ष तक कठोर साधना के द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर होते हैं और सर्वत्र विहार करके अपने धर्म का उपदेश करते हैं। अन्त में बिहार प्रान्त के ही पावानगर में उनका निर्वाण होता है। उसी के उपलक्ष में जैन शास्त्रों में दीपावली का त्यौहार प्रवर्तित होने का उल्लेख मिलता है। यतः भगवान महावीर का निर्वाण अमावस्या को ब्राह्म मुहूर्त में हुआ था, अतः अन्धकार दूर करने के लिये दीपक जलाये गये थे। वे भगवान के ज्ञान-दीप के प्रतीक भी थे।

भगवान महावीर का यह जीवनदर्शन उनके दर्शन का भी परिचायक है। भगवान महावीर के दर्शन में अवतारवाद को स्थान नहीं है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बन सकने की शक्ति से सम्पन्न माना है। अपने ही दुष्कर्मों से जीव दुर्गति का भागी होता है और अपने ही पुरुषार्थ से निर्वाण प्राप्त करता है। ईश्वरवादी दर्शन जीव को कर्म करने में स्वतंत्र और उसका फल भोगने में परतंत्र मानते हैं। कहा है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयोः।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

अर्थात्—यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःख का स्वामी नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।

किन्तु भगवान महावीर के दर्शन में इस प्रकार के ईश्वर की कोई स्थिति नहीं है। इस दृष्टि से उनका दर्शन निरीश्वरवादी है। जैसे शराब पीने से नशा स्वयं होता है और दूध पीने से स्वयं शरीर में पुष्टि आती है, उसमें ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। उसी तरह दुष्कर्म करने वाले मनुष्य की परिणति स्वयं ऐसी होती है कि वह अपने कर्म से प्रेरित होकर नरक जाता है और शुभकर्म करनेवाला स्वर्ग जाता है। जैन सिद्धान्त में कर्मसिद्धान्त अपना एक विशिष्ट स्वतंत्र स्थान रखता है। उसकी प्रक्रिया को समझ लेने पर फलदान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जगत का समस्त व्यापार बिना किसी नियन्ता के कार्यकारण भाव की परम्परा पर स्वयं चलता रहता है। जगत की प्रक्रिया ही ऐसी है। उसे न कोई बनानेवाला है और न कोई विनष्ट करनेवाला है।

प्रत्येक वस्तु स्वतः स्वभाव से ही परिणमनशील है। किन्तु वह परिणमन ऐसा नहीं होता कि वस्तु का सर्वथा विनाश हो जाये या एक तत्व बदलकर दूसरे तत्व रूप हो जाये। दर्शनशास्त्र का एक सामान्य नियम है—सत् का सर्वथा विनाश नहीं होता और सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता। फिर भी वस्तु में प्रति समय उत्पाद-विनाश हुआ करता है।

अनेकान्त—

जैनागम के अनुसार भगवान महावीर के मुख से जो प्रथम वाक्य निस्टत हुआ, वह था—'उप्पन्नेइ वा, विगमेइवा, धुवेइ वा' अर्थात् प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव होती है। इसे जैन दर्शन में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहते हैं। ये तीनों प्रत्येक वस्तु में प्रति समय सदा हुआ करते हैं। तभी वस्तु सत् होती है। अतः जैन दर्शन में सत् का लक्षण ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। इसी से तत्वार्थ सूत्र में कहा है—'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्'।

उदाहरण के लिये—जब कुम्हार चाक घुमाकर मिट्टी का बरतन बनाता है तो प्रति समय मिट्टी की पुरानी दशा नष्ट होकर नई दशा उत्पन्न होती है और मिट्टी रूप अवस्था ध्रुव रहती है। पुरानी दशा के नष्ट होने और नई दशा के उत्पन्न होने में काल भेद नहीं है, पुरानी दशा का विनाश ही नई दशा का उत्पादन है।

विनाश के बिना उत्पाद नहीं, उत्पाद के बिना विनाश नहीं, और ध्रौव्य के बिना उत्पाद विनाश नहीं तथा उत्पादन विनाश के बिना ध्रौव्य नहीं। अतः जो उत्पाद है वही विनाश है। जो विनाश है वही उत्पाद है, जो उत्पाद विनाश है वही ध्रौव्य है और जो ध्रौव्य है वही उत्पाद विनाश है। जैसे घड़े की उत्पत्ति ही मिट्टी की पिण्ड अवस्था का विनाश है क्योंकि भाव भावान्तर के अभाव रूप से अवभासित होता है। जो मिट्टी के पिण्ड का विनाश है वही घट का उत्पाद है क्योंकि अभाव भावान्तर के भावरूप से अवभासित होता है। तथा जो घट का उत्पाद और मिट्टी के पिण्ड का विनाश है वही मिट्टी की ध्रुवता है क्योंकि अन्वय का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशन व्यतिरेक मुख से ही होता है। तथा जो मिट्टी की ध्रुवता है वही घट का उत्पादन और मिट्टी के पिण्ड का विनाश है क्योंकि व्यतिरेक अन्वय का अतिक्रमण नहीं करता।

यदि ऐसा न माना जाये तो उत्पाद भिन्न, विनाश भिन्न और ध्रौव्य भिन्न ठहरता है। ऐसी स्थिति में केवल घट का उत्पाद कोई चाहे तो घट उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि मिट्टी के पिण्ड का विनाश हुए बिना घट उत्पन्न नहीं होता। वही उसका कारण है। उसके बिना तो असत् का उत्पाद मानना होगा और तब आकाश के फूल जैसे असंभव वस्तुओं का भी उत्पाद होगा। तथा केवल विनाश चाहने पर मिट्टी के पिण्ड का विनाश नहीं होगा क्योंकि आगामी पर्याय के उत्पाद के बिना पूर्वपर्याय का विनाश नहीं होता। यदि ऐसा हो तो सत् का विनाश मानना होगा।

पूर्वपर्याय से युक्त द्रव्य उपादान कारण होता है और उत्तरपर्याय से युक्त वही द्रव्य उपादेय कार्य होता है। आप्तमीमांसा में कहा है—

'कार्योपादः क्षयो हेतोर्नियमात् लक्षणात् पृथक्'। उपादान का पूर्व आकार रूप से विनाश कार्य का उत्पाद है क्योंकि जो कार्य के उत्पाद का कारण है वही पूर्व आकार के विनाश का कारण है। इस प्रकार पूर्वपर्याय उत्तर पर्याय का कारण होती है और उत्तर पर्याय पूर्व पर्याय का कार्य होती है। इस तरह वस्तु के पूर्व और उत्तर परिणाम को लेकर तीनों कालों के प्रत्येक समय में कार्यकारण भाव हुआ करता है। जो पर्याय अपनी पूर्व पर्याय का कार्य होती है वही पर्याय अपनी उत्तर पर्याय का कारण होती है। इस तरह प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपना कारण और स्वयं ही अपना कार्य होता है। कार्यकारण की यह परम्परा प्रत्येक द्रव्य में सदा प्रवर्तित रहती है। उसका अन्त नहीं होता। अतः वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक कहा है क्योंकि द्रव्य के बिना पर्याय नहीं और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता, जैसे उत्पाद व्यय के बिना ध्रौव्य और ध्रौव्य के बिना उत्पाद व्यय नहीं होते। उत्पाद व्यय पर्याय या परिणमन का सूचक है और ध्रौव्य स्थिरता या द्रव्यरूपता का सूचक है।

द्रव्य स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है। न वह सर्वथा सत् ही है और न वह सर्वथा असत् ही है। यदि प्रत्येक वस्तु को सर्वथा सत् माना जाय तो सब वस्तुओं के सर्वथा सत् होने से उनमें जो भेद है उसका लोप हो जायेगा और उसके लोप होने से सब वस्तुएँ परस्पर में एक हो जायेंगी। उदाहरण के लिये घट और पट ये दो वस्तु हैं। जब हम किसी से घट लाने को कहते हैं तो वह घट ही लाता है पट नहीं लाता, और जब पट लाने को कहते हैं तो पट ही लाता है घट नहीं लाता। इससे सिद्ध है घट घट ही है और पट पट ही है। न घट पट है और न पट घट है। अतः घट घट रूप से है और पट रूप से नहीं है। इसी को दार्शनिक भाषा में कहते हैं घट है और नहीं है। उसका विश्लेषण होता है घट घट रूप से है पट रूप से नहीं है और पट पट रूप से है घट रूप से नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु स्वरूप से है और पर रूप से नहीं है। अतः संसार में जो सत् है वह किसी अपेक्षा असत भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नहीं है। अतः एक ही समय में द्रव्य सत् भी है और असत् भी है। स्वरूप से सत् है और पर रूप से असत् है।

इसी तरह एक ही समय में वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य की अपेक्षा नित्य है क्योंकि द्रव्य रूप का नाश नहीं होता और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है क्योंकि पर्याय विनाशशील है। विश्व के दार्शनिकों की भी दृष्टि में आकाश नित्य है और दीपक क्षणिक है। किन्तु जैन दृष्टि से दीपक से लेकर आकाश द्रव्य तक सम-स्वाभावी हैं। द्रव्य रूप से दीपक भी नित्य है और पर्याय रूप से आकाश भी क्षणिक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह एक ही समय में वस्तु एक भी है और अनेक भी है। पर्याय की अपेक्षा अनेक है क्योंकि वस्तु प्रति समय परिणमनशील है और द्रव्य रूप से वस्तु एक है। तथा एक ही समय में वस्तुभेद रूप भी और अभेद रूप भी है। द्रव्य रूप से अभेद रूप है और गुणों तथा पर्यायों के भेद से भेद रूप है। इस तरह वस्तु परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक धर्मात्मक होने से अनेकान्तात्मक है। अन्त शब्द धर्मवाचक है। यों तो सभी दार्शनिक वस्तु में अनेक धर्म मानते है। केवल एक ही धर्म वाली कोई वस्तु नहीं है। किन्तु जैन दर्शन अपेक्षा भेद या दृष्टि भेद से एक ही वस्तु में ऐसे अनेक धर्म मानता है जो परस्पर में विरुद्ध जैसे प्रतीत होते हैं—जैसे सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि। आचार्य समन्त भद्र ने अपने आप्त-मीमांसा प्रकरण में और आचार्य सिद्धसेन ने अपने सन्मति प्रकरण में इसकी व्यवस्थापना की है।

अकलंक देव ने अपनी अष्टशती में कहा है—

'सदसन्नित्यानित्यादि सर्व थैकान्त प्रतिक्षेपल क्षणो अनेकान्तः'। सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि सर्वथा एकान्त का प्रतिक्षेप लक्षणवाला अनेकान्त है अर्थात् सर्बथा एकान्त का निषेधक है किन्तु अपेक्षा भेद से एकान्त को स्वीकार करता है। यदि एकान्त को सर्वथा न माना जाये तो अनेकान्त भी नहीं बन सकता क्योंकि एकान्तों का समूह ही तो अनेकान्त है। कहा है—

'एयंतो एयणओ होइ अणेयंत तस्स समूहो'
नयचक्र १८०।

एक दृष्टि को एकान्त कहते हैं और उसका समूह अनेकान्त है। अनेकान्त को समझाने के लिये शास्त्रकारों ने दो लौकिक दृष्टान्त दिये हैं। एक ही पुरुष में पिता, पुत्र, पौत्र, भानेज, भाई आदि अनेक सम्बन्ध होते हैं। एक ही समय में वह पिता भी होता है और पुत्र भी। एक का पिता और पुत्र होना परस्पर विरुद्ध जैसा लगता है किन्तु वह अपने पिता का पुत्र और अपने पुत्र का पिता है, अतः एक का पिता होने से वह सब का पिता या पुत्र नहीं होता। और न इन बहुत सम्बन्धों का पुरुष के एकत्व के साथ विरोध है। इसी तरह अस्तित्व-नास्तित्व आदि धर्म भी एक वस्तु में निर्विरोध रहते हैं।

दूसरा दृष्टान्त दिया है अन्धों और हाथी का। कुछ अन्धे एक ही हाथी के एक-एक अंग को स्पर्श द्वारा जानकर अपने जाने हुए हाथी के एक अंग को ही हाथी मानकर परस्पर में झगड़ते हैं। तब एक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति जिसने पूरा हाथी देखा है उन्हें समझाता है कि तुमने हाथी का एक-एक अंग देखा है, वह असत्य नहीं है। हाथी की सूंड लट्ठ सरीखी होती है अतः हाथी वैसा भी है। उसके पैर स्तम्भ जैसे होते हैं अतः हाथी स्तम्भ जैसा भी है। इस तरह वह सबका समन्वय करके पूर्ण हाथी उन्हें बतला देता है। इसी तरह वस्तु के सब धर्मों का दर्शन अनेकान्त है और एक धर्म का दर्शन एकान्त है। यदि वह एकान्त अन्य धर्मों का निषेध न करके उनकी सापेक्षता स्वीकार करता है तब वह एकान्त सम्यक् है और यदि वह अपने को ही सम्यक् मानता है और अन्य एकान्तों को असत्य ठहराता है तो वह एकान्त मिथ्या है। अनेकान्तवादी जैन दर्शन सम्यक् एकान्तों को स्वीकार करता है किन्तु मिथ्या एकान्तों का खण्डन करता है।

एक अनेकात्मक होता है यह प्रायः अन्य दर्शनों ने भी माना है। साख्य दर्शन में सत्व, रज और तम की साम्यावस्था को प्रधान कहा है। सत्त्वगुण का स्वभाव प्रसाद और लाघव है। रजोगुण का स्वभाव शोष और ताप है। तमोगुण का स्वभाव आवरण और सादन है। इस प्रकार इन भिन्न स्वभाववाले गुणों का न तो परस्पर में विरोध है और न प्रधान रूप से विरोध है क्योंकि सांख्य दर्शन में कहा है कि इन गुणों से भिन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई अलग प्रधान नहीं है किन्तु साम्य अवस्था को प्राप्त वे ही गुण प्रधान नाम से कहे जाते हैं। अतः प्रधान के अवयव रूप गुणों का और उनके समुदाय रूप प्रधान का परस्पर में कोई विरोध नहीं है।

वैशेषिक दर्शन में सामान्य को अनुवृत्ति रूप और विशेष को व्यावृत्ति रूप माना गया है। किन्तु पृथिवीत्व आदि को सामान्य विशेष रूप स्वीकार किया है। एक ही पृथिवीत्व अपने भेदों में अनुगत होने से सामान्य रूप और जलादि से व्यावृत्ति कराने से विशेष रूप माना गया है, इसी से उसे सामान्य विशेष कहा गया है।

विज्ञानाद्वैतवादी एक ही विज्ञान को ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार इस प्रकार तीन आकार रूप स्वीकार करते हैं। तथा सभी दार्शनिक पूर्व अवस्था को कारण और उत्तर अवस्था को कार्य स्वीकार करते हैं। अतः एक ही पदार्थ में अपनी पूर्व और उत्तर पर्याय की दृष्टि से कारण और कार्य का व्यवहार निर्विरोध होता है। उसी तरह सभी पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओं से अनेक धर्मवाले होते हैं। इसे ही अनेकान्त कहते हैं।

इस अनेकान्तवाद का खण्डन बादरायण के सूत्र 'नैकस्मिन्नसंभवात्' (2/5/33) में मिलता है। इसकी व्याख्या में स्वामी शंकराचार्य ने अनेकान्तवाद पर जो सबसे बड़ा दूषण दिया है वह है 'अनिश्चितता'। उनका कहना है कि 'वस्तु है और नहीं भी है' ऐसा कहना अनिश्चितता को बतलाता है। और अनिश्चितता संशय को पैदा करती है। किन्तु ऊपर स्पष्ट किया गया है कि वस्तु स्वरूप से सत् है और पर रूप से असत् है। यह निश्चित है—इसमें अनिश्चितता को स्थान नहीं है। देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी है, इसमें जैसे कोई अनिश्चितता नहीं है क्योंकि वह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, उसी तरह वस्तु सत् भी है और असत् भी, इसमें कोई अनिश्चितता नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् होती है यह निश्चित है। इसके बिना वस्तु व्यवस्था नहीं बनती। वस्तु का वस्तुत्व दो मुद्दों पर स्थापित है—स्वरूप का ग्रहण और पर रूपों का त्याग। यदि इनमें से एक भी मुद्दे को अस्वीकार किया जाय तो वस्तु का वस्तुत्व कायम नहीं रह सकता। यदि वस्तु का अपना कोई स्वरूप न हो तो बिना स्वरूप के वह वस्तु नहीं हो सकती। इसी तरह स्वरूप की तरह यदि वह पर रूप को भी अपनाले तो भी उसकी अपनी स्थिति नहीं रहती। वह तो सर्वात्मक हो जायेगी।

स्याद्वाद—

इस प्रकार जब वस्तु परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मों का समूह है तो उसको जानना उतना कठिन नहीं है जितना उसे कहना कठिन है। क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक साथ जान सकता है किन्तु शब्द के द्वारा एक समय में वस्तु के एक ही धर्म को कहा जा सकता है। उस पर भी शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है। वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को मुख्य करके बोलता है। जैसे देवदत्त को उसका पिता पुत्र कहकर बुलाता है और पुत्र पिता कहकर पुकारता है। किन्तु देवदत्त न केवल पिता है और न केवल पुत्र है। वह तो दोनों है। किन्तु पिता की दृष्टि से देवदत्त का पुत्रत्व धर्म मुख्य है और पुत्र की दृष्टि से पितृत्व धर्म मुख्य है। शेष धर्म गौण है क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु के जिस धर्म की विवक्षा होती है वह धर्म मुख्य और शेष धर्म गौण होते हैं। अतः वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने और शब्द में एक समय में उन सब धर्मों को कहने की शक्ति न होने से तथा वक्ता का अपनी-अपनी दृष्टि से वचन व्यवहार करते देखकर, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने में श्रोता को कोई धोखा न हो, इसलिये अनेकान्तवाद में से स्याद्वाद का आविष्कार हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यों ने अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन को स्याद्वाद कहा है। 'स्याद्वाद' के अनुसार वक्ता वस्तु के जिस धर्म को कहता है उससे इतर शेष धर्मों का सूचक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ प्रकट या अप्रकट रूप से सम्बद्ध रहता है जो बतलाता है कि वस्तु में केवल वही धर्म नहीं है जो कहा जा रहा है किन्तु उसके सिवाय अन्य भी धर्म है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथञ्चित्' या किसी 'अपेक्षा से' है।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्ताचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेय विशेषकः ॥

—आप्तमीमांसा — १०४।

अर्थात् 'कथञ्चित्' कथञ्चन आदि स्याद्वाद के पर्याय हैं, स्याद्वाद को कहते हैं। यह स्याद्वाद अनेकान्त को विषय करके सात भंगो और नयों की अपेक्षा से स्वभाव और परभाव से सत् असत् आदि की व्यवस्था का कथन करता है।

अतः वाक्य के साथ प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द प्रकृत अर्थ के धर्मों को पूर्ण रूप से सूचित करता है। इस तरह अकलंक देव के अभिप्राय से 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का सूचक है और उनके व्याख्याकार आचार्य विद्यानन्द के अभिप्राय से अनेकान्त का द्योतक भी है क्योंकि निपात द्योतक भी होते हैं। यदि केवल 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाये तो अनेकान्त सामान्य की ही प्रतिपत्ति होती है, अतः उसके साथ जीव आदि पद का प्रयोग किया जाता है यथा 'स्यात् जीव' अर्थात् कथंचित् जीव है—स्वरूप की अपेक्षा जीव है तथा पररूप की अपेक्षा जीव नहीं है। स्यात् शब्द के बिना अनेकान्त अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

किन्तु लोक में और शास्त्र में प्रत्येक पद और प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् पद का प्रयोग तो नहीं देखा जाता। तब उसके बिना अनेकान्त की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में आचार्य विद्यानन्द ने कहा है—स्यात् पद का प्रयोग नहीं होने पर भी उसको जाननेवाले उसे समझ लेते हैं।

कोई-कोई आधुनिक विद्वान शायद को स्यात् का स्थानापन्न समझते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है। 'शायद' शब्द तो सन्देह को व्यक्त करता है किन्तु 'स्यात्' शब्द सन्देहपरक नहीं है। वह केवल इस बात का सूचक या द्योतक है कि वक्ता विवक्षावश वस्तु के जिस धर्म को कहता है वस्तु में केवल वही एक धर्म नहीं है अन्य भी प्रतिपक्षी धर्म हैं।

उपयोग —

यह स्याद्वाद या अपेक्षावाद न केवल दार्शनिक क्षेत्र में ही उपयोगी है किन्तु लोकव्यवहार भी उसके बिना नहीं चलता। इसके लिये दो लौकिक दृष्टान्त ऊपर दिये गये हैं। यह अनेकान्तवाद की देन है और एक वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखनेवाले विभिन्न व्यक्तियों में सामन्जस्य स्थापित करना इसका काम है। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही दृष्टिकोण को उचित और दूसरों के दृष्टिकोण को गलत मानता है। यदि वह अपने दृष्टिकोण की तरह दूसरे दृष्टिकोणों को भी सहानुभूतिपूर्वक अपनाये तो पारस्परिक विवाद समाप्त हो जाता है। यद्यपि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दार्शनिक क्षेत्र की देन हैं और इनका उपयोग भी दार्शनिक क्षेत्र के विवादों को सुलझाने में ही हुआ है। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में दो विरोधी एकान्तवादों में दोष दिखाकर यह बताने का सफल प्रयत्न किया है कि यदि इनका समन्वय स्याद्वाद के द्वारा किया जाता है तो ये विरोधी वाद भी अविरुद्ध हो जाते हैं। भावैकान्त अभावैकान्त, नित्यैकान्त अनित्यैकान्त, भेदैकान्त अभेदैकान्त, अद्वैतकान्त द्वैतै-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कान्त, आदि सभी विरोधी एकान्तवादों का जब समन्वय संभव है तब कौनसी समस्या इसके द्वारा हल नहीं की जा सकती। किन्तु उसका प्रयोग करने की आवश्यकता है। इसके लिये मूल में महावीर की अहिंसक भावना होना आवश्यक है। अहिंसक भावना की ही देन अनेकान्त और स्याद्वाद है। विचार के क्षेत्र में जो हिंसा का ताण्डव होता था उसे मिटाने के लिये ही अनेकान्त और स्याद्वाद का सर्जन हुआ। इनके बिना विचार के क्षेत्र में प्रवर्तित हिंसा का मिटना अशक्य है। अतः अहिंसा का ही एक नाम अनेकान्त और स्याद्वाद है यदि ऐसा कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं है। इसे हम सत्याग्रह भी कह सकते हैं क्योंकि अनेकान्ती सत्य के प्रति आग्रही होता है। जो सत्य है वह अनेकान्त रूप है और जो अनेकान्त रूप है वही सत्य है। अनेकान्त दृष्टि के बिना सत्य तक पहुँचना संभव नहीं है। अतः सत्य के खोजी को अनेकान्त दृष्टि से सम्पन्न होना चाहिये तभी वह सत्य द्रष्टा हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org